1963 No-4

❀ ओ३म् ततसत् ❀

सहज मार्ग

SAHAJ MARGA

वर्ष ७ Year 7

अंक ४ Number 4

श्री रामचन्द्र मिशन, शाहजहांपुर

(उ० प्र०) (भारतवर्ष)

Shri Ram Chandra Mission

Shahjahanpur, U. P. (India)

सम्पादक मण्डल

काशीराम अग्रवाल, शाहजहाँपुर,

सूर्यप्रसाद श्रीवास्तव, लखीमपुर-खीरी (उ० प्र०)

वार्षिक मूल्य ३) 1963. N एक अंक १)

प्रकाशक:- श्री रामचन्द्र मिशन पब्लिकेशन डिपार्टमेन्ट शाहजहाँपुर उत्तर प्रदेश (इन्डिया)

विषय सूची:—

विषय	लेखक	पृष्ठ
१–प्रार्थना		
२–परम तत्व	समर्थ गुरु महात्मा रामचन्द्र जी, फतेहगढ़	१
३–वैराग्य का स्वरूप	श्री रामचन्द्र जी	४
४–सहज मार्ग की साधना	काशीराम अग्रवाल	७
५–जीवन और साधना	प्रोफेसर हरिदत्त सिंह	१३
६–वास्तविकता	श्री ईश्वर सहाय जी	१८
1. Parallelisim in Nature– Sri Ram Chandra Ji		1
2. Abhyas or Divine Grace–Sri Ishwar Sahai		6
3. Talks on E. R.—Dr. K. C. Varadachari		10
4 My Master of this world and Beyond–	Sri R. C Saxena	16
5. My experience of Sahaj Marg—	Sri Raghavendra Rao—	23
6. Emotional Integration a post Scipt—	S. C. Srivastava—M A	29

(सर्वाधिकार सुरक्षित)

Shri Ram Chandra Mission

With this issue, the magzine completes its seventh year of publication. The first issue of the next series is expected to be out by March 64. The subscribers are hereby requested to send the next year's subscription as early as possible, along with arrears if any.

Two more publications of the Mission, "Talks on Efficacy of Rajyoga" by Dr. K. C. Varadachari and the English translation of the Master's Hindi book "Anant Ki or" are in the press and may be out in due course.

Thr second edition of "Reality at Dawn" by Shri Ram Chandra Ji, is now published and can be available at all centres and Branches of the Mission. The price is Rs. 2—50 per copy.

Publication Department.

सहज मार्ग

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ।

उठो जागो !! पुरुजनों को प्राप्त कर ज्ञान-लाभ करो ।

वर्ष ७ अङ्क ४ | शाकाब्द १८८५, संवत २०२० विक्रमी Year 1963 | Year 7 No. 4

* प्रार्थना *

हे नाथ, तू ही मनुष्य-जीवन का ध्येय है ।
हमारी इच्छायें हमारी उन्नति में बाधक हैं ।
तू ही हमारा एकमात्र स्वामी और इष्ट है ।
बिना तेरी सहायता तेरी प्राप्ति असम्भव है ।

O, Master !
Thou art the real goal of human life
We are yet but slaves of wishes
putting bar to our advancement,
Thou art the only God and Power
to living me upto that stage.

// परम तत्व* //

[समर्थ गुरु महात्मा रामचन्द्र जी महाराज फतेहगढ़]

परम तत्व की खोज—चतुर्थ पद का निर्देश

साधो एक रूप है सब में ।
बुन्द बुन्द में भेद नहीं है, सिन्धु बुन्द दोउ एका ।
बुन्द में सिन्धु सिन्धु बुन्दवत यही है सार विवेका ॥१॥
बुन्द के पीछे सिन्धु है व्यापक सिन्धु बुन्द आधारा ।
सिन्धु आधार बुन्द बरनाना भला तत्व विचारा ॥२॥
भला कल्पना मन में उपजी सिन्धु बुन्द बिलगाने ।
सिन्धे कल्पना ज्ञान है बस में तब कोई भेद बिलाने ॥३॥
सिन्धा भरम, कल्पना मिथ्या, मिथ्या जग व्यवहारा ।
जब यह मिथ्या भरम मिटे औ मिटे द्वन्द बिस्तारा ॥४॥

❀ ❀ ❀

ब्रह्म सिद्धान्त है अर्थात् परमात्मा व्याप्तात्व स्थितियों से मुक्त है । जीव द्वन्द में रहता है इसमें विज्ञान तलाश है, उसमें देहाती नहीं है क्यों कि ब्रह्म में सुख का अनुभव नहीं है । जीव जीवन की इच्छा में सुख को चाहता है और दुख से बचता है ।

---

* पिछले अङ्कों में प्रकाशित 'ब्रह्म ज्ञान' शीर्षक लेख से आगे का लेख

दुख जीव की आंशिकता के दोष का परिणाम है और वह सुख का इच्छुक रहता है इसलिये उसको दुख है। ब्रह्म में कमाल और पूर्णता है उसको न जीवन की इच्छा है और न वह सुख का इच्छुक है। अतः उसमें दुख न रहेगा।

ज्ञान अपूर्णता की दशा है। जहाँ ज्ञान होगा वहाँ ज्ञान, ज्ञाता और ज्ञेय की त्रिवर्गात्मक स्थिति अवश्य रहेगी जिसका परिणाम सीमत्व होगा। और जब ब्रह्म में सीमत्व नहीं है तो यह त्रिवर्गात्मकता कैसे कायम करेगा? ब्रह्म चूंकि पूर्ण है अतः उसमें कल्पना और भ्रम कैसा। कल्पना और भ्रम तो जीव में ही रहते हैं तो अपूर्ण है। ब्रह्म को अपनी पूर्णता और कमाल तक का विचार नहीं है। ब्रह्म में जो गुण हैं वह उसमें केवल जीव की दृष्टि से हैं। ब्रह्म अपने आप को सच्चिदानन्द नहीं कहता, न करना धरना मानता है, न वह अपने आप को पूर्ण कहता है। जीव ही उसको ऐसा समझ कर उसे चरम लक्ष्य मानता है। यदि ब्रह्म कहे कि मैं पूर्ण हूं तो इसका यह अर्थ होगा कि वह अंश को समझ रखता है। और जब अंश की समझ आ गई तो वह फिर पूर्ण न रहा। अंश और पूर्ण दो वर्ग आ गए फिर उसको एक कौन कहेगा।

जीव में इच्छा आँशिकता के भ्रम के प्रभाव के अन्तर्गत है, अन्यथा एकत्व दर्शी दृष्टि को समुद्र में बूंदें खोई हुई दृष्टिगोचर होने लगती है। उसकी दृष्टि में तो समुद्र एक बेहद व बेहिसाब बड़ा बूंद है जिसमें टुकड़े नहीं हैं। एक बात तो यह हुई। दूसरी बात यह है कि यदि किसी कारण किसी बूंद को अपने अलग होने का ज्ञान

हुआ है तो उसे यह भी तो समझना चाहिये कि हर बूंद की पृष्ठभूमि में समुद्र है। और वह स्वयं समुद्र से मिला हुआ एक है। और जब एकता आ गई तो फिर बूंद और समुद्र का भ्रम कहाँ रहा? जीव ऐसा भी नहीं समझता। यदि ऐसा समझ ले तब भी अलगाव दोषपूर्णता और आंशिकता का विचार न सताये। ऐसा विश्वास चरम लक्ष्य की प्राप्ति का प्रारंभिक चरण है। इसको 'इल्मुल्यकीन' अर्थात 'वाचिक ज्ञान' कहते हैं, जो 'सत्यता' है अर्थात शारीरिकता जिसके साथ है। बीच के ज्ञान का नाम 'हक्कुल्यकीन' अर्थात् 'यथार्थ ज्ञान' है, जो इसी के चिन्तन और विचार का परिणाम है और 'चितपना' है। और अन्तिम ज्ञान को 'ऐनुल्यकीन' अर्थात् 'तद्रूप ज्ञान' कहते हैं, जो 'आनन्दपना' अर्थात् मस्ती और आनन्द की वह स्थिति है जो दुख को नहीं जानती। और जिसे सुख और आनन्द का एहसास भी नहीं है, वह पूर्ण है, यही ब्रह्मपना है।

(क्रमशः)

जिस प्रकार बच्चों के लिये खेल खिलौने उन के मनोरंजन के साधन होते हैं इसी प्रकार विद्वानों के लिये पुस्तकें पहलवानों के लिये दंड मुगदर, पुजारियों के लिये पूजापाठ, ज्ञानियों के लिये ज्ञान भक्तों के लिये भक्ति, सिद्धों के लिये सिद्धि, और वैरागियों के लिये एकान्त वास ध्यान उपासना इत्यादि मनोरंजन ही के साधन हैं।

(पूज्य बाबू जी)

* वैराग्य का स्वरूप *

[श्री रामचन्द्र जी, अध्यक्ष श्री रामचन्द्र मिशन]

बात तो यह है कि सच्चे जिज्ञासु नहीं मिलते, वर्ना मजा आ गया होता। लोग रगड़ रगड़ा कर ऐसी हालत भी पैदा करना नहीं चाहते कि कुछ न कुछ बन कर ही रहें। जब आदमी में किसी हालत का, जब वह पैदा होती है, एहसास होता है, तब उस को दूसरों का काम बनाने के लिये इस्तेमाल कर सकता है। इस कदर हालतें मेरे एहसास में हैं, और इतने (Points) मेरे खयाल में हैं, और आए रिसर्च भी होती जाती है—उन में से एकाध (Points) भी लेने की शक्ति वाले लोग कम मिलते हैं। और मेरी तबीयत यह चाहती रहती है कि हर आदमी हर (Point) का मजा चखे। दूसरे मानों में मैं इतना बेकरार रहता हूं आला से आला ब्रह्म विद्या देने के लिये कि इस का अगर थोड़ा सा भी हिस्सा अभ्यासी अपने जिम्मे ले ले तो जाने क्या से क्या हो जावे। लाला जी ने भी मुझ से कहा है कि 'इस हद तक सीखने वाला मुश्किल से मिलेगा।' मगर खैर, जितना भी, जैसा मिल जाये। लोग कहते हैं कि एहसास नहीं होता। उन से कोई यह तो पूछे कि तुम ने कभी एहसास करने की कोशिश भी की? जो हालत पैदा हुई उस में कभी घुस भी! अगर वह यह कहें कि इतना माद्दा नहीं कि एहसास कर सकें, तो यह बिल्कुल गलत है। माद्दा हर एक में है, और ब्रह्म विद्या में अक्ल खुलने लगती है। मगर जब उस ताकत को कोई दूसरी तरफ लगा दे, तो फिर क्या किया जाये।

देखने में तो ऐसा आता है कि सोचने और अनुभव करने की जो सामर्थ्य पैदा होती है, उसे लोग दुनियां की तरफ लगा देते हैं। नतीजा यह होता है कि जिस चीज से वैराग्य पैदा होना चाहिये, उस में और राग पैदा हो जाता है। यह नुक्स अभी लिखाते लिखाते मेरी समझ में आया, और यह ठीक है। वाकई महात्माओं की यह राय ठीक थी कि जब जिज्ञासु अपने में वैराग्य पैदा कर लेता था, तब असल जौहर उस को दिया जाता था। जो कुछ दिल से छोड़ना नहीं चाहते और सिर्फ कहने सुनने में आकर मेरे यहां सीखना शुरू कर देते हैं। मैं भी यह समझ लेता हूं कि भाई, फायदा कुछ न कुछ जरूर हो जायेगा। और अपने लिये तो पर मेहनत करना खूब समझ लेता हूं और मेरा लिखे हुक्म भी ऐसा ही है।

वैराग्य अभ्यासियों में खुद व खुद पैदा हो गया होता, और बड़ी आसानी से अगर वह अपनी तवज्जोह की डोर ईश्वर की तरफ पूरी तौर से लगा देते। मैं यह अर्ज करता हूं, कि मन का रुख ईश्वर की तरफ कर देता हूं ताकि उस तरफ लगा रहे, और बढ़ता भी जाता है। लोग क्या करते हैं कि उस को दुनियाँदारी की तरफ घसीटते हैं। और यह हो नहीं सकता, इतना मुझ को गुरु महाराज की कृपा से विश्वास है, कि जिस मन को ऊपर की तरफ लगा दिया फिर वह नीचे की तरफ नहीं उतर सकता। नतीजा मुमकिन है यह होता हो कि उन लोगों को जो दुनियाँ के मामले में ज्यादा दौड़ लगाते हैं, परेशानी का एहसास ज्यादा होता हो। इसलिये कि मन ऊपर रहना चाहता है और उस को वह नीचे घसीटते हैं।

अगर ईश्वर की तरफ इन्सान पूरी तौर से लग जाता है, तो फिर वैराग्य ही वैराग्य है; और कहीं किसी रूढ़ी सूरत पर कोई लग गया तो दुनियाँ से ही नहीं बल्कि अपने से भी वैराग्य हो जाता है। शरीर की चेतना तो जाती ही रहती है यह इस का एक अपना करिश्मा है। आत्मा की चेतना जाने का भी नम्बर आ जाता है। फिर क्या है मुर्दा को बदलाने वाला जिधर चाहे उसे फेर दे। हालतें आगे ऐसी आती हैं कि उस को शब्द जाहिर नहीं कर सकते।

सीता ने एक तोता पाला, और वह उससे बहुत मोहब्बत करती थी, और राजा जनक सीता से मुहब्बत करते थे। नतीजा क्या हुआ कि राजा जनक तोते से मोहब्बत करने लगे। तोता दुखी होता था तो सीता को दुख होता था और जब सीता को दुख होता था तो राजा जनक को भी दुख होता था। अब देखो तो सही कि इतना बड़ा ऋषि दूसरे प्राणों में तोते से लगाव रखता था। हमसे अगर पूछो तो हम यही कहेंगे कि वह इन्सान ही नहीं जो दूसरे के दुख दर्द को देख कर दुखी न हो। महात्माओं को तो भाई जाने दो। उन में तो ऐसे अज्ञान कर्म के वैरागी मिलते हैं कि कहते हैं कि माँ बाप पुत्र परिवार सब शत्रु के समान हैं। तो भाई मुझे तो कोई ऐसी महात्मा मीरी दे तो सौ बार 'लाहौल' पढ़ने के लिये तैयार हूं। अब उन महात्माओं की तालीम पर गौर करो कि कितने बड़े राग की तालीम देते हैं जिस का नतीजा सिवा तबाही के और Moral Stamina खराब कर देने के और कुछ नहीं होता हम शत्रु समझने की आदत डाल रहे हैं। हम जब यह आदत डाल रहे हैं तो मुमकिन है हमारे

अगलात खुद ऐसे औजार बन जायें कि हमारे खून से अपने आप को रंग लें।

—एक अभ्यासी को लिखे गये पत्र से उद्धृत

॥ सहज मार्ग की साधना ॥

(काशीराम अग्रवाल)

बहुत से भाइयों को यह प्रश्न बना ही रहता है कि ईश्वर प्राप्ति का यह सहज मार्ग कैसे हुआ जब कि ईश्वर प्राप्ति का मार्ग तो बड़ा ही कठिन है।

यह प्रश्न तो अधिकतर उन भाइयों को ही उठा करते हैं जिन्होंने सहज मार्ग के ग्रंथ एवं साधना पद्धति को अपना कर उस की परीक्षा न की हो। ईश्वर सूर्य की भाँति जमीन से नौ करोड़ मील लाख मील लम्बा कहीं आसमान में बसा हुआ नहीं है जो उसे प्राप्त करना कठिन समझा जाये। श्रद्धेय बाबू जी महाराज ने तो अपनी पुस्तक Reality at Dawn में यहाँ तक लिखा है कि लोग ईश्वर प्राप्ति जितना कठिन समझते हैं उतना कठिन नहीं है आज के युग में सरकारी नौकरी पाना जितना कठिन है ईश्वर प्राप्ति कहीं उससे भी सहज है।

ईश्वर प्राप्ति हमें कठिन क्यों लगती है? इस लिये कि हमने अपने विचारों को पत्थर एवं ठोस बना लिया है। अपने हृदय पर कालिमा के (मल विक्षेप आवरण) पर्दे डाल लिये तथा अपने जीवन

का उद्देश्य आवश्यकता से अधिक धनोपार्जन कर ऐश आराम करना ही बना लिया; और ईश्वर क्या है सत्य क्या है इस को समझने की हमने आवश्यकता ही न समझी।

हम लोगों की बुद्धि में कितनी ठोसता भरी है कि ईश्वर को आसमान का निवासी समझते हैं या मन्दिर मस्जिद गिरजा घर में रहने वाला ही समझते हैं वास्तव में यह हम लोगों का अन्ध विश्वास ही कहा जा सकता है कि जो सर्वव्यापी परमात्मा है उसे स्थूल एवं सीमित एक ही जगह रहने वाला समझने लगे। अगर ऐसा न समझते तो हमें हर समय हर जगह पाप कर्मों से भय बना रहता। अब भय इस लिये नहीं होता है कि वह ईश्वर हमें वहां देखने कैसे आवेगा वह तो आसमान में या मन्दिर में ही रहता है।

बहुत से भाई दुनियां की भलाई के लिये वर्ष में एक दो बार विशेष कार्यक्रम बनाते हैं जैसे दुर्गा पूजा जन्माष्टमी के अवसर पर या किसी आश्रम एवं संस्थाओं में धार्मिक प्रोग्रामों के अवसर पर दूर-दूर से लोग आते हैं। खूब भीड़ होती है खूब सजावट एवं सुन्दर सुन्दर आदेश होते हैं अपने जीवन की उलझी हुई समस्याओं को सुलझाने के लिये ही अक्सर धार्मिक प्रोग्राम बनाये जाते हैं लेकिन वहाँ पर अधिकतर लोग मनोरंजन के लिये ही जाना पसन्द करते हैं जिस प्रकार मेलों में रंगीन रहते हैं इधर उधर ताक कर अपने नेत्रों में चन्दनी भर कर बजाय फायदे के और नुकसान में बढ़ जाते हैं यह आंखों का दोष नहीं है बल्कि यह मन का एक रोग है जो साधना से ही दूर किया जा सकता है।

ईश्वर प्राप्ति के लिये आसमान की तरफ टकटकी बांधने की भी आवश्यकता नहीं यह केवल एक भेद मात्र है जो सच्चा पथ प्रदर्शक हमें बतला देगा। यह तो सभी जानते हैं कि भेद वाला ताला अनजान व्यक्ति के लिये पहाड़ होता है। और वर्षों तक स्वयं को उस में उलझाता रहे तो भी उसका खुलना असम्भव हो सकता है लेकिन भेद वाले (पथ प्रदर्शक) का सहारा लेकर उसका भेद क्षण मात्र में जाना जा सकता है। जो बात हमारे लिये कठिन थी, अब वह हमारे लिये सहज हो गई, इस लिए हमें (पथ पदर्शक) प्राप्त होने के बाद सहज लगने लगती है। कठिनाई तभी तक है जब तक सच्चे पथ पदर्शक के लिए तड़फ पैदा नहीं होती। ईश्वर को बातों से नही पाया जा सकता उसके लिए साधना-अभ्यास जरूरी है।

वास्तव में साधारण अर्थ में ईश्वर का दर्शन नहीं होता। जो हमें इष्ट आदि के दर्शन होते हैं वह हमारा काल्पनिक चित्र हमारे सम्मुख उसी रूप में आ जाता है, जैसा कि हम उसे चाहते है। उन्हें कल्पना कह लेना शायद गलत न होगा। इसी लिए निर्विकल्प समाधि का अनुभव कल्पना रहित है। ईश्वर अनुभवगम्य विषय है, अनुभव किया जा सकता है, उसका दर्शन नहीं होता। अनुभव उसी प्रकार किया जाता है जिस प्रकार हमें चलती हुई हवा शरीर से स्पर्श होती हुई अनुभव होती है मगर उसका दर्शन नहीं होता। योगी हवा के सदृश्य हर समय ईश्वर का अनुभव करता रहता है।

ईश्वर प्राप्ति हमें कठिन क्यों लगती है? इस लिए कि मन सांसारिक विषय को अधिक चाहता है और अध्यात्मिकता की तरफ

जाने पर मन बहाना बना कर इस से बचने के लिए यह आदेश देने लग जाता है नहीं, नहीं बड़ा कठिन काम है, इस अहम्मन्य हैं हम ईश्वर को भला कैसे पा सकते हैं। ऐसा क्यों होता है? इस लिए कि जो विश्व को देखने का शीशा या यन्त्र हृदय है उसके आगे हम लोगों ने कालिमा के पर्दे बना कर डाल दिये हैं और नतीजा यह हुआ कि हमें प्रकाश मिलना बन्द हो गया तथा अपने बनाये हुये दायरे के अन्दर ही रहकर आवश्यकता से अधिक सम्पत्ति प्राप्त करना खूब ऐश आराम करना ही जीवन का उद्देश्य बना लिया और सहज चीज कठिन दिखाई देने लगी। परिणाम यही हुआ कि असली पूजा की पद्धति को छोड़ बैठे और बनी लकीर को पीटना शुरू कर दिया। नतीजा यह हुआ जीवन भर लकीर पीटते रहे फिर भी सर्प न मरा जीवन भर पूजा की फिर भी भगवान न मिला।

सहज मार्ग की साधना में जहाँ तक अनुभव किया, बहुत ही सूक्ष्म साधनों द्वारा बड़ी सरलता पूर्वक मानव अपने उद्देश्य की प्राप्ति कर सकता है। यह तो समर्थ सद्गुरु की अपार कृपा का फल है कि अपने अनुभव द्वारा बहुत कुछ रास्ता काट छांट कर सहज बना दिया ताकि लोग कठिन और असम्भव कह कर सच्चे मार्ग से अलग न हो बैठें तथा उन्हें अपनी आन्तरिक शक्ति (Transmission power) द्वारा समय समय पर अभ्यासी को बराबर मदद देते रहते हैं। और सिखाने वाले में प्राणाहुति (T. Power) अगर है तो फिर वह मार्ग मुश्किल नहीं रहता बल्कि सहज कहा जा सकता है, इस मार्ग में हर एक धर्म वाला साधनों द्वारा अपना

जीवन सुलझा सकता है। सब का उद्देश्य एक ही है।

एक व्यक्ति के लिए शक्ति से दूना वजन लम्बे सफर में सिर पर उठा कर सफर तय करना कठिन है लेकिन यदि अच्छा शक्तिशाली सहयोगी हमें सहयोग देने वाला मिल जावे कि वह कुछ वजन हमारी शक्ति अनुसार हमें दे देवे और बाकी अपने सिर पर लाद कर हमें घर तक पहुंचा दे तो वह चित्र जो हमारे लिये असम्भव थी अब सहज हो गई। ऐसे सच्चे सहयोगी (पथ पदर्शक) की आवश्यकता है। तरीके बतलाने वाले हजारों मिल जाते हैं, मगर सर पर बोझ लाद कर मदद करना कोई नहीं चाहते, तो वह हमारे लिये सहयोगी नहीं हो सकते। कोरी सफाचट मैदान सी बातों से क्या होता है, हमें तो ऐसे सहयोगी की आवश्यकता है जो बोझ लाद कर घर तक पहुंचा दे। रास्ता बतलाने वाले तथा खड़े रहना मैं अभी आता हूं, कह कर रास्ता नापने वाले हजारों मिलेंगे। निस्वार्थी अनुभवी योगी ही हमारे जीवन की समस्यायें सुलझा सकते हैं। लेकिन अफसोस हमारी बन्दर बुद्धि पर! कहानी है कि किसी बगीचे में कई बन्दर घुस कर आमों का नाश कर डालते थे माली ने गोली चलाना शुरू किया, बन्दरों ने आपस में मीटिंग की और कहा क्या आदमी ही आम के वृक्ष लगा सकते हैं हम नहीं लगा सकते, कुछ बन्दर आम की गुठलियाँ लेकर नदी के किनारे गड्ढा खोद कर गुठली दबादी तथा दो चार मिनट के पश्चात् ही पेड़ न उगने पर परेशान हो गये और दो चार मिनट तक पानी डालते रहे तथा सब आपस में अफसोस कर कहने लगे; अभी तक तो अंकुर भी नहीं फूटा

दूसरा कहने लगा अभी तक तो पत्ते भी नहीं निकले। यही हाल आज हम लोगों का है, सच्चा पथ पदर्शक प्राप्त हो जाने पर भी ५-७ दिन तो अभ्यास साधना उनके आदेशानुसार करते हैं तथा दो चार दिन में ही उब कर कहने लग जाते हैं कि अभी तक तो चार भुजा वाले भगवान के दर्शन ही नहीं हुये और अभी तक तो कुछ भी चमत्कार दिखाई नही दिये। भाई मैं तो यही कहूंगा कि श्रद्धा विश्वास द्वारा पूरी जिन्दगी भर अपने सद्गुरु के आदेशानुसार चले और जीवन के शेष दिन में एक क्षण पहले भी अगर प्रकाश मिल जाये और हमारे बनाये कालिमा के पर्दे टूट जावें तो बड़ा ही सहज है, क्यों कि शास्त्रों में बतलाया गया है कि अभ्यासी अगर स्वयं की शक्ति द्वारा चले तो एक हालत पार करने में १० हजार वर्ष लगते हैं और दूसरी में दुगने वर्ष !! अब विचार करने पर पता चलेगा कि इस जीवन में पथ पदर्शक को कितना काम करना पड़ता है। सहज-मार्ग का प्रथम तरीका आन्तरिक सफाई का है जो पूर्णाहुति (Trans mission Power) की सहायता से सहज बन जाता है। और इससे सहज तरीका और हो भी क्या सकता है। अफसोस तो इस बात का है कि लोग चलना नहीं चाहते अभ्यास करना नहीं चाहते, सहज तरीकों को अपनाना नहीं चाहते। अगर हम उन सहज तरीकों को अपना कर दृढ़ता के साथ रास्ता तै करते, तो असम्भव या कठिन शब्द का कभी भी प्रयोगन करते।

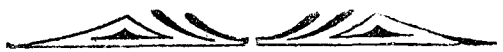

॥ जीवन और साधना ॥

(प्रोफेसर हरिदत्त सिंह—अध्यक्ष हिन्दी विभाग
युवराज दत्त महाविद्यालय लखीमपुर खीरी)

वर्तमान युग संक्रान्ति का युग है। जीवन के सभी क्षेत्रों में नये-नये प्रयोग हो रहे हैं। पुरातन भावों एवं विचारों की श्रंखलायें टूट टूट कर नये भावों एवं विचारों को जन्म दे रही हैं। अतीत की संध्या में वर्तमान का प्रभात झाँक रहा है। इस नवोत्थान की वेला में हम अपनी नवीन उपलब्धियों, जीवन के परिवर्तित मूल्यों तथा इस यात्रा की अन्य सफलताओं का मूल्याङ्कन करने में संलग्न हैं। अनेक क्षेत्रों में हमारा असाधारण एवं द्रुत गति से विकास हुआ है। किन्तु मानव जीवन का यह विकास एवं बाह्य समृद्धि उसके अन्तर्मन का श्रङ्गारन कर सकी। स्नेह, सहानुभूति, दया, दाक्षिण्य आदि उसकी उदात्त वृत्तियाँ विज्ञान की शीत में ठिठुर कर रह गई हैं। मानव हृदय की मृदु लता एवं सुकुमारता भौतिक संसार के निर्मम आघातों से क्षत विक्षत हो गई है। हमारी संवेदनायें जीवन में गति मति न पाकर पंगु हो रही हैं। आज मनुष्य अतुलधन संपत्ति का स्वामी होकर भी, मनुष्यत्व के गौरव एवं गरिमा से रहित हो गया है। यही कारण है कि आज उसका जीवन अशाँत एवं दुखमय है। असंतोष ईर्ष्या, द्वेष घृणा, अविश्वास की आंधियों ने, इसे विनाश के कगार पर लाकर खड़ा कर दिया है। आज उसकी सृष्टि ही, उसके संहार का कारण बन रही है।

यदि विचार पूर्वक देखें तो इन समस्त विषमताओं का एक मात्र कारण है जीवन के प्रति उसका एकाङ्गी तथा संकुचित दृष्टिकोण भौतिकता के अतिशय रागने उसे चेतना के विकास से पराङ्मुख कर दिया है। विश्व इतिहास में ऐसे अनेक अवसर आये हैं जब कि मनुष्य की भौतिक और आध्यात्मिक उन्नति में, सामंजस्य के अभाव ने, मानव जाति के लिये महान् संकट उपस्थित कर दिया है। विनाशकारी युद्ध हुये। मानव जाति की सभ्यता, संस्कृति तथा उसकी अगणित उपलब्धियां नष्ट भ्रष्ट हो गईं। पशुता ने उसके देवत्व को पराभूत कर दिया। दैव दुर्विपाक से आज भी उसी प्रकार की परिस्थितियां बनती जारही हैं जिनमें से कि आणविक युद्ध की विभीषिका झाँक रही है। मानवीय सभ्यता एवं संस्कृति की रक्षा का ज्वलन्त तथा जटिल प्रश्न सब के समक्ष उपस्थित है। हमारा दृढ़ विश्वास है कि भौतिकता के क्षय रोग से पीड़ित एवं जर्जर विश्व को आध्यात्मिक साधना की संजीवनी ही विनाश से बचा सकती है।

मनुष्य में जो देवत्व का भाव है उसे साधना द्वारा जाग्रत कर उसकी अगणित वृत्तियों एवं शक्तियों को जो नरसंहार के साधन जुटाने में संलग्न हैं, विश्वकल्याण की ओर प्रवाहित करना अनिवार्य हो गया है। उसमें सत्यं शिवं सुन्दरं की प्रतिष्ठा करनी इनकी प्रतिष्ठा का एक मात्र साधन है आध्यात्मिक साधना।

आध्यात्मिक साधना को जीवन में सहज भाव से ही देखना समीचीन होगा। हम यह कदापि नहीं चाहतेहैं कि प्रतिदिन के जीवन के साथ हमारी परम साधना का कहीं भी विरोध हो। दैनिक

जीवन और शाश्वत साधना का यह जो अविरोध भाव है, वह ही हमारा "सहज मार्ग" है।

सहज मार्ग की साधना वस्तुतः मन की साधना है। जब तक हमारा मन निर्मल एवं विशुद्ध नहीं होता तब तक हमारी मानसिक अशांति बनी रहेगी। हमारे संकल्प विकल्प के व्यापार चलते रहेंगे इनके रहते हुए हमारी संतुलित अवस्था सम्भव नहीं।

मन हमारी समस्त क्रियाशीलता का केन्द्र बिन्दु है। हमारे कार्यों, विचारों, कामवासनाओं तथा भावों आदि सब का वह नियामक है। इतना शक्तिशाली होने के साथ ही साथ वह अत्यन्त चंचल भी है। इसे स्वतंत्र छोड़ देने पर यह शारीरिक चेतना के साथ मिल कर हमारी वासनाओं, आकाँक्षाओं तथा अनेक भौतिक सुखों को पूरा करने में लग जाता है। उसी में वह बुरी तरह से उलझा रहता है। उसकी यह भौतिक प्रवृत्ति ही हमारे बहुमुखी पतन का मुख्य कारण बन जाती है और कितने ही दोष एवं विकार हमारे जीवन को संतप्त करने लगते हैं। यही कारण है कि मनको मनुष्य का सबसे बड़ा शत्रु कहकर उसकी निन्दा की जाती है और अनेक साधनों द्वारा उसके दमन तथा हनन के प्रयत्न किये जाते हैं। किन्तु यह सारे प्रयास उसे कुप्रवृत्तियों से मुक्त नहीं कर सकते। दमन का निश्चित कुपरिणाम यह होता है कि मन में बुराइयाँ पैदा हो गई हैं उन्हें मन से निकालने के स्थान पर सदैव के लिये मन के साथ ही दबा दिया जाता है। मन के साथ ही उसके अगणित दोष भी दब जाते हैं और कभी भी वे इस प्रक्रिया से दूर नहीं हो पाते।

सधारणतया लोग मनकी बाहरी क्रियाओं को रोकने की चेष्टा करते हैं किन्तु मन के अन्दर जो भौतिक संस्कारों का विष उत्पन्न हो गया है उसे वे बराबर बने रहने देते हैं। इससे त्राण पाना उनके बश की बात नहीं रहती है। इसका फल यह होता है कि जब कभी मन का बाह्य नियंत्रण शिथिल होता है, मानसिक कुप्रवृत्तियाँ पुनः सक्रिय हो उठती हैं और उनका व्यापार हमारे अधःपतन का कारण बन जाता है।

इससे यह सिद्ध होता है कि मन का दमन अथवा उसके क्रिया कलापों का बाह्य नियंत्रण मनको अनुशासित करने का उचित एवं अभिलषित साधन नहीं। मन को जब तक साँसारिक प्रभावों संस्कारों तथा विकारों से मुक्त नहीं किया जायगा तब तक वह शाँत एवं स्थिर नहीं हो सकता। इसलिये मनका उदात्तीकरण होना चाहिये, दमन नहीं। भाव यह है कि मन जो संसाराभिमुख है उसे ईशोन्मुख कर देना ही हमारा पुनीत कर्तव्य है। मन में जो बुराइयाँ या दोष उत्पन्न हो जाते हैं उनके विष को निकाल करके ही उसे सही दिशा में लगाया जा सकता है।

"सहज मार्ग" में मन को शुद्ध करने का जो नियम है वह बड़ा ही वैज्ञानिक है। उसमें मन में जो स्थूलता, जटिलता एवं कुप्रवृत्तियां भौतिकता के प्रभाव से उत्पन्न हो जाती हैं उन्हें आध्यात्मिक उन्नति के लिये दूर करना परमावश्यक है। किन्तु बहुधा आध्यात्मिक जीवन के इस महत्वपूर्ण अंग की उपेक्षा की जाती है जिसके फलस्वरूप न मन निर्विकार होकर संतुलित ही हो पाता है

न साधक को शान्ति ही मिल पाती है। यही कारण है कि मन का नियमन सहज मार्ग की साधना का मुख्य अंग है और मन की शुद्धता और संतुलन इसके अविभाज्य अंश हैं। मन का नियमन भी ध्यान द्वारा ही संभव है क्योंकि ध्यान का मन से सीधा संबन्ध है। इससे मन के क्रिया कलापों का संयमन होता है और मन की प्रवृत्तियों में सहज एवं क्रमिक सुधार होने लग जाता है। संसार की ओर भागने की उसकी चेष्टायें मंद एवं शिथिल पड़ जाती हैं। उसे साँसारिक विषयों से प्राप्त होने वाले क्षणिक सुखों तथा वासनाओं से ऊपर उठा एवं दिव्य भावों की ओर लगा दिया जाता है। यही उदात्तकार्य हम ध्यान द्वारा संपादित करते हैं। ध्यान का अभ्यास बढ़ने पर हमें शांति एवं स्थिरता का अनुभव होने लगता है। ध्यान के साधन द्वारा हम में ईश्वरीय गुण अवतरित होने लगते हैं। इससे हमारा ईश्वर से सीधा सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। गुरु कृपा से (Divine Grace) निरंतर रूप से साधक में प्रवाहित होने लग जाती है। इस प्रकार विचार पूर्वक देखने पर मन ब्रह्मानुभूति का एक मात्र तथा अतुलनीय साधन सिद्ध होता है। वह निंदनीय तथा गर्हित कदापि नहीं कहा जा सकता।

प्रायः देखा गया है कि साधक आरम्भ में ही मन को एकाग्र करने के लिये भगीरथ प्रयत्न करते हैं किन्तु सहज मार्ग की साधना में हम आरम्भ में एकाग्रता के लिये प्रयत्न नहीं करते। एकाग्रता ध्यान के सुपरिणाम के रूप में अायास ही प्राप्त हो जाती है। मनुष्य के अंदर सोई हुई दिव्य सौन्दर्यानुभूति इस साधना द्वारा

जाग्रत हो जाती है और हमारे अंदर जिस दिव्यता का विकास आरम्भ होता है उसका हम क्रमशः अनुभव करने लग जाते हैं। साधक दिन प्रति दिन उन्नति की ओर अग्रसर होता रहता है। उसके अन्दर की मनुष्यता दिव्यता में परिणत होती जाती है।

दिव्यानुभूति के मार्ग में भौतिकता के संसर्ग से जो अवरधि अथवा प्रत्यूह उत्पन्न हो गये हैं उन्हें प्रायश्चित्ति (Trans mission) द्वारा दूर किया जाता है। अंततः निर्विकारता की पूर्ण संतुलित स्थिति साधक को प्राप्त हो जाती है। प्रेय और श्रेय दोनों की सिद्धि उपलब्ध हो जाती है और वह सद्गुणों की राशि बन जाता है। मानव जीवन में साधना का यही महत्व है।

वास्तविकता

(श्री ईश्वर सहाय जी)

वास्तव में ईश्वर अत्यन्त और सूक्ष्म है इस लिए उसको प्राप्त करने के साधन भी उसी प्रकार सरल और सूक्ष्म होना आवश्यक है तभी सफलता संभव हो सकती है परन्तु कठिनाई यह है कि हम इस सीधी सादी चीज में अपनी उलझी हुई समझ के कारण ऐसी उलझनें और कठिनाइयाँ उत्पन्न कर लेते हैं कि जीवन भर उन्हीं में फंसे रहते हैं। हमारे गुरुदेव श्री बाबू जी महाराज का कहना है कि 'आजकल के जमाने में सरकारी नौकरी पाना जितना कठिन है ईश्वर प्राप्ति उतनी भी मुश्किल नहीं।' बात यह है कि उस ओर

केवल इस प्रकार मुंह घुमा देने की आवश्यकता है कि फिर उससे हटे नहीं, बस काम बना बनाया रक्खा है। इतनी सीधी सी बात है जिसको इतना कठिन और जटिल बना कर बताया जाता है। इसकी जिम्मेदारी उन लोगों पर है जो पुस्तकें पढ़ पढ़ा कर ब्रह्मज्ञानी होने का दावा करते हुये जगद्गुरु बन बैठते हैं। उन्हें इस बात से मतलब नहीं कि मुर्दा चाहे स्वर्ग में जाये चाहे नर्क में। उनको केवल अपने हलवे माँडे से काम है। सीधे सादे लोगों को कुछ न कुछ बता कर बहका देना, ज्ञान के विषयों पर धुआँधार व्याख्यान उड़ा देना या किताबी सिद्धाँतों को तोड़ मरोड़ कर सींक का पहाड़ बना देना उनका परम कर्तव्य है। इसी कारण साधारण लोग जीवन भर उलझे रहते हैं।

इस विषय में सबसे बड़ी गलती यह होती है कि ईश्वर की पूजा उपासना करने के स्थान पर वे लोगों को किसी कल्पित रूप की पूजा करने को बताते हैं। परिणाम यह होता है कि बस रूप ही रूप उनकी दृष्टि में रह जाता है और असलियत बिल्कुल लुप्त हो जाती है। इस प्रकार वे ईश्वर के बजाय रूप के उपासक ही बन जाते हैं। रूप जो कुछ भी लिया जाता है वह केवल हमारी दिमागी कल्पना पर आधारित होता है और उससे वास्तविकता गायब रहती है, केवल लकीर पीटना ही बाकी रह जाता है। वास्तव में ईश्वर का न कोई रूप है न आकार है फिर उसको इस तरह रूप रंग के बंधनों में सीमित कर देना उसकी वास्तविकता को खो देना है। ईश्वर तो जो है सो है और वैसा ही सदैव रहेगा। उसका रूप मान लेने से

वह हमारी कल्पनानुसार रूपधारी तो बन नहीं जायेगा केवल इन ही अपनी कल्पनाओं के जाल में उलझ जायें। धीरे-धीरे यह कल्पनायें और भी मजबूत होती जायेंगी और हम साकार-निराकार सगुण-निर्गुण के झगड़ों में उलझे रह जायेंगे। इस विषय में गुरु महाराज का कहना है कि—

"ईश्वर को किसी ने इस तरह पर नहीं समझा जैसा कि वह है। उसको अपने मन से तरह-तरह के रूप-रंग, बनाव-श्रृंगार आदि दे कर ऐसा बना लिया जो मन को भावे अर्थात उसको भी माया का आवरण पहना दिया। अब उसकी पूजा में जब हम लगते हैं तो अवश्य ही माया में और भी गड़ते चले जाते हैं। अन्य शब्दों में हम माया के पुजारी बन गए। वास्तविकता का बिल्कुल पता न रहा बताने वाले महात्मागण अपने रंग में रंगे हुये इसी प्रकार की रंगीन बातें ही बताते हैं जो माया के वशीभूत होने के कारण सबको अधिक पसंद आती है। आपने देखा होगा कि श्रृंगार रस के काव्यों का कितना आदर होता है और वेद के रूखे विषय पर सुनने को कोई भी तैयार नहीं होता। जाना तो हमें एकता की ओर है परन्तु जा रहे हैं उसके विपरीत अनेकता की ओर अर्थात विचारधारा के लिये सैकड़ों प्रणालियाँ बना देते हैं। इस कारण ईश्वर प्राप्ति जैसा कहा जाता है कठिन ही नहीं असंभव है क्योंकि हम गलत आधार पर चल रहे हैं।

असल बात तो यह है कि ईश्वर के बारे में यह प्रश्न उठना कि 'वह ऐसा है या वैसा' बिल्कुल गलत है। उसके लिये तो बस

यही कहना पड़ेगा कि 'जो है सो है।' सफलता के लिए होना यह चाहिये कि हम नाम रूप रंग इत्यादि के झगड़ों को मन से हटा कर यह ख्याल ले कर कि 'वह जैसा भी हो' उसके ध्यान में लग जायें तभी हमारी समस्या आसानी से हल हो सकती है।

दूसरी महान गलती जो इस विषय में होती है वह साधना से संबंधित है। साधन जो आम तौर पर प्रयोग में लाये जाते हैं वह सब बाह्य साधन ही होते हैं जिनका संबंध मन से बिल्कुल नहीं होता। जैसे शरीर को कसना, दिमाग की तोड़ मरोड़, मन को दबाना और कुचलना इत्यादि। लोगों का यह भी ख्याल है कि इन साधनाओं को जितनी सख्ती, मेहनत और जबरदस्ती से किया जायेगा उतनी ही सफलता मिलेगी। कहने का तात्पर्य यह है कि आमतौर पर कई प्रकार के साधन प्रचलित हैं। प्रथम तो वे जिनका संबंध केवल मस्तिष्क से है, दूसरे वे जिनका संबंध शरीर से है, तीसरे वे जिनका संबंध न मस्तिष्क से है न शरीर से—ये केवल दिल बहलाव के लिये किये जाते हैं। कुछ ऐसे भी हैं जो रस्मि रिवाज के अधीन हैं और इसी कारण से कर लिए जाते हैं। यह केवल व्यवहार की बात रह जाती है जिसमें कोई तत्व की बात नहीं। अब रही दिल बहलाव वाली पूजा जिसमें समस्त बाह्य पूजायें जाप, पाठ, कीर्तन इत्यादि जो आजकल प्रचलित हैं सम्मिलित हैं। इन पूजाओं का प्रभाव न मन पर होता है न शरीर पर। केवल क्षणमात्र के लिये यह संतोष सा हो जाता है कि हाँ कुछ कर लिया। बहुधा कभी कुछ अधिक प्रभाव के कारण कुछ क्षण के लिये सकते की दशा या स्तब्धता सी

छा जाती है जिसको लोग भूल से आध्यात्मिक दशा समझने लगते हैं इस तरह की पूजायें मुद्दतों तक करने के पश्चात भी उनके मन की दशा में कोई परिवर्तन नहीं होता अर्थात् स्वभाव की कठोरता, क्रोध अहंकार और अन्य विकार ज्यों के त्यों बने रहते हैं बल्कि और भी बढ़ते जाते हैं परन्तु उन्हें इससे कोई प्रयोजन नहीं। उन्हें थोड़ी देर के लिए मन बहलाव का साधन तो मिल ही जाता है। अब रही वे साधनायें जो शारीरिक क्रियाओं पर आधारित हैं जैसे आसन, प्राणायाम और हठयोग की क्रियायें आदि। इनके करने वाले भी बहुत पाये जाते हैं। यह अवश्य है कि इन क्रियाओं से उनका स्वास्थ्य अच्छा और शरीर हृष्ट पुष्ट बन जाता है। परन्तु इनसे उनके मन की दशा में क्या परिवर्तन होता है? और ईश्वरीय मार्ग पर वे कितना अग्रसर होते जाते हैं यह तो वही समझें। किन्तु साधारणतः यही देखने में आता है कि बस पहलवानी ही पहलवानी उनके भाग्य में आती है और ईश्वर विषय में वे सदा की भांति अपरिचित रहते है। अब रहे वे ब्रह्मज्ञानी जो शास्त्रों को पढ़-पढ़ा कर माया-जीव और ब्रह्म के विषयों में अपना मस्तिष्क उलझाये रहते हैं और तरह-तरह के तर्क वितर्क से ईश्वर को अपने ख्याल के घेरे में बांध लेने के प्रयत्न में लगे रहते हैं अर्थात् यह सब वे साधन हैं जिनके आधार पर लोग ईश्वर प्राप्ति का दम भरते हैं। यह हैं हमारी कल्पनायें और यह हैं उसकी प्राप्ति के साधन और इस तरह के पथप्रदर्शक हमें मिलते हैं। अतः इस प्रकार लोगों का बस ईश्वर ही मालिक है। गुरु महाराज का यह कहना है कि सरल वस्तु की

प्राप्ति सरल साधन के प्रयोग से ही हो सकती है। जैसे कि जमीन पर पड़ी हुई सुई को चुटकी से उठा लेना बहुत ही आसान है परन्तु यदि उसके उठाने के लिये रेल के डिब्बे उठाने वाली मशीन क्रेन का प्रयोग किया जाये तो सफलता कठिन ही नहीं वरन् असंभव है। ठीक यही बात इस विषय में भी है। यदि हम ईश्वर को अपनी दिमागी उछल-कूद या शारीरिक व्यायाम या इस तरह के अन्य साधनों द्वारा प्राप्त करना चाहें तो यह कदापि नहीं हो सकता।

एक बात और है जो इस विषय में अत्यन्त हानिकारक है। वह यह है कि बहुधा लोगों का यह कहना है कि भई। रास्ते सब ठीक हैं और सभी रास्ते ईश्वर तक जाते हैं इसलिये चाहे कोई भी रास्ता ग्रहण करो और चाहे कुछ करो अन्त में पहुँचेंगे ईश्वर तक ही। मेरे विचार से संभवतः इससे अधिक भुलावे में डालने वाली कोई दूसरी चीज नहीं। यह भी स्पष्ट है कि ऐसा कहना अधिकतर उन्हीं लोगों का होता है जो न खुद कुछ करते-धरते हैं, न करना ही चाहते हैं और न ईश्वरीय ख्याल का अंखुआ ही उनके दिल में फूटा है। अपने मन को समझाने के लिये उपर्युक्त बात उनके लिये काफी है।

एक बात यह भी है कि लोग ईश्वर प्राप्ति का अर्थ भी तरह तरह से लगाते हैं। जो लोग ईश्वर को रूपधारी मान कर उसका एक सुन्दर स्वरूप ध्यान में बिठा लेते हैं और उसी रूप को प्राप्त करना चाहते हैं; वे उस बालक के समान हैं जो किसी सुन्दर खिलौने

को देख कर उसको लेने के लिये मचल जाता है और जब वह मिल जाता है तो थोड़ी देर के लिए बच्चे के दिल बहलाव और मनोरंजन का साधन बन जाता है। वास्तव में ईश्वर इस प्रकार का कोई खिलौना नहीं है जिसको हम अपने दिल बहलाव का साधन मान लें। यह भी कहा जाता है कि ईश्वर हर जगह मौजूद है हमारे अन्दर भी है और बाहर भी। कोई स्थान उससे खाली नहीं। जब यह बात है तो रूप का प्रश्न ही नहीं उठता। अब एक बात यह भी आ जाती है कि जब वह हमारे रोम-रोम में व्याप्त है तो फिर प्राप्ति का अर्थ क्या है? यह सत्य है कि वह हमारे रोम-रोम में व्याप्त है परन्तु फिर भी हम उससे अलग हैं। अब ऐसे व्यापी ईश्वर को हमसे अलग रखने वाली चीज क्या है? यह केवल हमारा 'आपा' है। 'आपा' हट जाने से फिर केवल ईश्वर ही रह जाता है। अतः ईश्वर प्राप्ति का अर्थ केवल 'आपा' का पर्दा दूर करना ही रह गया। मतलब यह हुआ कि इस 'अहम्' के आवरण को हटा कर हमें स्वयं वैसा ही बन जाना है जैसा कि 'वह' है।

अब यह विचार करना है कि वह है कैसा? तथा हममें और ईश्वर में क्या अन्तर है? अन्तर बस यही है कि हम स्थूलता के आवरण में बंधे हुये हैं और वह अत्यंत सूक्ष्म है तथा हर चीज से मुक्त है। तात्पर्य यह है कि उस जैसा बनने के लिए हमें भी स्थूलता को हटा कर वैसी ही अत्यन्त सूक्ष्म दशा प्राप्त करना है। वास्तव में ईश्वर प्राप्ति का अर्थ यही है। अब यह बात स्पष्ट है कि सूक्ष्मता

प्राप्त करने के लिये स्थूलता से संबंध रखने वाली बातें किसी प्रकार सहायक नहीं हो सकतीं इसलिये आवश्यक हो जाता है कि हम अपनी साधना में भी इस बात का ध्यान रखें और केवल उन्हीं साधनों का प्रयोग करें जो हमें सूक्ष्मता की ओर ले जायें।

ऐसे ध्येय की प्राप्ति के लिये कुछ अन्य बातें भी आवश्यक हैं। सबसे पहले हमारे अन्दर लगन होना चाहिये। यह लगन तभी हो सकती है जब हमारे हृदय में ईश्वर की महानता पूर्ण रूप से विद्यमान हो और हर ईश्वर प्राप्ति को जीवन का मुख्य उद्देश्य समझे हुये हों। यदि जीवन का लक्ष्य स्थापित हो गया है तो उसको पाने के लिए प्रबल इच्छा होगी। लगन और कुछ नहीं अति प्रबल इच्छा ही है। यह इच्छा हमारे अन्दर तभी उत्पन्न होगी जब हमारे मन में यह बैठ जाये कि जीवन में पग-पग पर हमें 'उसकी' (ईश्वर की) आवश्यकता है। वैसे कहने को तो सभी कह देंगे कि ईश्वर की आवश्यकता किसे नहीं है? परन्तु इस बात को हृदय से मानने वाले शायद थोड़े ही मनुष्य मिलेंगे। हर मनुष्य जीवन भर अपने संसारी धन्धों में उलझा रहता है और अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिये उधेड़-बुन में लगा रहता है तथा कठिन से कठिन परिश्रम करता है। फिर भी कभी सफलता मिलती है और कभी निराशा। यही क्रम बराबर चलता रहता है। कभी सुख है तो कभी दुःख, कभी आराम है कभी तकलीफ। इसी प्रकार जीवन बीत जाता है। अब बताइये उन्हें ईश्वर की आवश्यकता कहां पर रही जबकि उनकी कुल इच्छायें

और आवश्यकतायें स्वयं उन्हीं की हैं। परिश्रम करने वाले भी वे ही स्वयं हैं और फल का भोग करने वाले भी वही हैं अर्थात् कुल बातें उन्हीं पर निर्भर हैं और वे स्वयं हर चीज़ के कर्त्ता और जिम्मेदार हैं तो फिर ईश्वर की गुंजाइश ही कहां पर रही। कहने को चाहे कुछ कह लें परन्तु मन से यह बात बिल्कुल दूर है कि 'वही' सब कुछ करता है। यदि वे कुछ पूजा पाठ भी कर लेते हैं तो यह उनका एहसान है परन्तु ऐसी दशा में लगन का कहीं पता नहीं रहता।

बात यह है कि उन लोगों की दृष्टि केवल बाहरी शरीर पर ही जमी रहती है, इससे हट कर अन्दर की ओर प्रवेश ही नहीं करती। इस कारण उनका ख्याल केवल ऊपरी बातों में जो शरीर से संबंधित होती हैं अटका रहता है। इससे ऊपर उठना ही नहीं। यह अवश्य है कि जब ऐसी बातें सामने आ जाती हैं जो कि उनके वश के बाहर होती हैं–उदाहरण के लिए रोग या बीमारी, हानि–लाभ तथा जीवन–मरण आदि, जिन पर वे अपने समस्त उपायों के रहते हुये भी क़ाबू नहीं पाते। केवल ऐसे अवसर पर उन्हें कुछ ख्याल होता है कि करने वाला कोई और है और सब कुछ 'उसी' की इच्छा पर निर्भर है परन्तु यह बात उनके हृदय में टिकती नहीं। यदि यही भाव हृदय में दृढ़ता से बैठ जाये और हर काम करते हुये उसका परिणाम 'उसी' पर छोड़ दें तो वास्तव में उन्हें ईश्वर की आवश्यकता हर क्षण पर प्रतीत होगी और उस ओर उनकी लगन बढ़ती जायेगी। तात्पर्य यह है कि यदि हमारे हृदय में यह भाव कि हम दीन हैं, दास हैं और 'वह' समर्थ स्वामी है–दृढ़ता से बैठ जाये

तो हमारी सब बाहरी बातें 'उसी' के अधीन हो जायेंगी।

लगन तभी दृढ़ हो सकती है जबकि हमारी दृष्टि अन्तिम ध्येय पर पूर्ण रूप से जमी हो। अब ध्येय क्या हो सकता है? इसके लिये हमें वही अन्तिम दशा जिस पर कि पहुंचना है विचार में लेनी है अर्थात् वह अत्यन्त सूक्ष्म दशा जहाँ पर हम 'उसके' समान बन जायें जहां तक संभव हो सके।

दूसरी आवश्यक बात यह है कि ध्येय की प्राप्ति के लिये सही रास्ता और उचित साधन काम में लाये जायें। यदि हमारी दृष्टि वास्तविक ध्येय पर जमी है और उसके लिए लगन भी दृढ़ मौजूद है तो यह हो ही नहीं सकता कि हम ग़लत रास्ते पर हीं चलते रहें। यह दूसरी बात है कि कुछ समय के लिये धोखा खा जायें। ध्येय प्राप्ति की प्रबल लगन स्वयं हमें सच रास्ते पर पहुँचा देगी। मार्ग भिन्न–भिन्न बताये गये हैं और साधन भी अनेक हैं परन्तु उनके द्वारा हम जिस परिणाम को प्राप्त होते हैं वह भी भिन्न होता है। मतलब यह हुआ कि प्रत्येक मार्ग का ध्येय भिन्न है और उसके द्वारा वही ध्येय प्राप्त हो सकता है। अब जब कि हमारा ध्येय सूक्ष्मता की अन्तिम दशा की प्राप्ति है तो आवश्यक है कि मार्ग भी उसी के अनुसार हो और उसी प्रकार के साधन भी काम में लाने चाहिये जो ध्येय प्राप्ति में सहायक हो। पथ प्रदर्शक भी ऐसा ही होना चाहिये जो अपने आत्मिक बल से हमारी बाधाओं को दूर कर हमारा मार्ग सुगम बनाने में निपुण हो। ऐसा पथ–प्रदर्शक वही हो

सकता है जो स्वयं भूल मार्ग चल कर सूक्ष्मता की उस अन्तिम सीमा तक पहुंच चुका हो जहां पर कि 'वस्तु वही वह है।' यदि हमें सफलता की चाह है तो ऐसे ही समर्थ पथ-प्रदर्शक की खोज करना है। सच्ची लगन वाले के लिए सही रास्ता और सच्चा गुरु मिल जाना कोई कठिन बात नहीं है।

सच्चा गुरु वास्तव में वही है जो अभ्यासी के अन्दर जागृति पैदा करके उसका ध्यान ईश्वर की ओर लगा दे। यह केवल गुरु की ही सामर्थ्य है जो अभ्यासी की आत्मिक शक्ति को उभार कर उसका प्रवाह उसकी आध्यात्मिक उन्नति की ओर कर देता है। यह गुरु ही है जो अभ्यासी के मन को सुधार कर उसकी बाधायें दूर करता जाता है, यह गुरु ही है जो अपने आत्मिक बल से अभ्यासी को आध्यात्मिक पथ पर बढ़ाता हुआ उन्नति के ऊंचे शिखर पर पहुंचा देता है। ऐसा ही समर्थ गुरु मिल जाने पर पूर्ण सफलता प्राप्ति अत्यन्त सरल और सुगम हो जाती है। सहज मार्ग की यह सबसे बड़ी विशिष्टता है कि साधक की उन्नति का समस्त भार केवल गुरु पर ही रहता है। यदि साधक ने सच्चे रूप में अपने आपको गुरु के आधार पर छोड़ दिया हो तो सफलता उसकी दासी हो जायेगी। वास्तव में सच्चा गुरु तो ईश्वर ही है और उसी से सबको प्रकाश मिलता है। परन्तु इस हीन अवस्था में साधारण मनुष्य के लिए यह बात अत्यन्त कठिन है कि वह सीधे ईश्वर से प्रेरणा प्राप्त कर सके। उसकी वर्तमान गिरी हुई दशा में यह बात उसकी सामर्थ के बिल्कुल बाहर है इसलिए यह आवश्यक हो जाता है

कि वह किसी ऐसे व्यक्ति की सहायता ले जो ईश्वरी धारा को उसकी ओर प्रवाहित करने की सामर्थ रखता हो और यह वही व्यक्ति कर सकता है जो 'उस' तक पूर्णतयः कर 'उसके' मर्म से भलीभाँति परिचित हो चुका हो तथा अपनी दिव्य शक्ति द्वारा अभ्यासी को आध्यात्मिकता में निपुण बनाने की सामर्थ्य रखता हो।

अभ्यासी को उस शिखर पर पहुंचाने के लिए 'प्राणाहुति' ही समर्थ है। 'प्राणाहुति' प्राचीन योगिक साधन है जिसके द्वारा गुरु अपनी प्राणशक्ति अभ्यासी में प्रविष्ट करा कर उसके अंदर से दोष, विकार और समस्त बाधाओं को दूर कर उसको उन्नति के मार्ग पर लगा देता है तथा सहारा देता हुआ उसे उन्नति के अन्तिम शिखर तक पहुंचा देता है। राजयोग की नींव इसी (प्राणाहुति) पर स्थापित है। प्राचीन ऋषियों ने इसी के प्रयोग से संसार का हित किया। इसके प्रभाव से अभ्यासी की समस्त कठिनाइयाँ क्षणमात्र में दूर हो जाती हैं। यदि अभ्यासी श्रद्धा और लगन सहित लगा हो तो अति सुगमता से ऊंची से ऊंची आध्यात्मिक दशा को प्राप्त हो जाता है। तात्पर्य यह है कि पूर्ण सफलता प्राप्ति के लिए हमें ऐसे ही समर्थ गुरु की आवश्यकता है।

ईश्वर प्राप्ति कोई सांसारिक विषय नहीं है जिसका संबंध केवल शरीर से हो। यह तो आध्यात्मिक विषय है जो आत्मा से संबंधित है। इसके लिए वही साधन उपयोगी हो सकते हैं जिनका संबंध हमारी आन्तरिक क्रियाओं से है। मनुष्य में सबसे प्रबल शक्ति 'मन' की है; अन्य सब शक्तियाँ इसी के अधीन हैं। यही वह

वस्तु है जो आदि से हमारे भाग में आई । आरंभ में यह (मन) अत्यन्त सूक्ष्म और शुद्ध दशा में था। धीरे-धीरे इस पर स्थूलता के पर्त चढ़ते गये और यह अपनी वर्तमान दशा पर पहुंच गया। अब इस अत्यन्त स्थूल दशा में यही मन हमारे बिगाड़ (विनाश) का कारण बन गया और यही बिगड़ा हुआ मन हमारी आध्यात्मिक उन्नति में बाधक हो गया। सबसे बड़ी समस्या अब हमारे सामने इसी मन की है। इसी कारण लोगों ने मन को सबसे बड़ा शत्रु बताया है और इसके दबाने तथा कुचलने के लिए उपाय बताये गए है जो त्याग वैराग्य तथा दमन इत्यादि से संबंधित हैं; परन्तु आज इन उपायों को साधारण जीवन के प्रयोग में लाना अत्यधिक कठिन है अतः इसी कारण इन उपायों को काम में लाने वाले बहुत ही कम लोग होते हैं। दूसरी बात यह भी है कि इन उपायों मे सफलता भी बहुत ही संदेहजनक रहती है क्योंकि मन को दबाने और कुचलने की विधि प्राकृतिक नियम के विरुद्ध भी है क्योंकि इस ढंग से अन्दर के विकार नष्ट नहीं होते केवल उनका विकास रुका रहता है। तात्पर्य यह हुआ कि विष अन्दर उपस्थित रहता है केवल उसकी प्रतिक्रिया को रोकने की चेष्टा होती रहती है। ऐसी दशा में यह बहुत संभव है कि वह किसी समय अनुकूल वातावरण पाने पर उभर कर उग्र रूप धारण कर ले। यह कारण है कि इनका प्रयोग पूरी तौर से नहीं किया जा सका और यह साधन केवल किताबों के पृष्ठों तक या मंच वक्ताओं की जिव्हा तक ही सीमित रहे हैं। यह अवश्य है कि मन ही समस्त विकारों का कारण है, परन्तु कब ?

जबकि वह स्वयं बिगड़ी हुई दशा में है और उसको बिगाड़ने का उत्तरदायित्व स्वयं हमारे ऊपर है। हमने ही उसे विषय वासना की ओर जाने के लिए स्वतंत्र कर रक्खा है जिससे चंचलता, विकार, दोष आदि बढ़ते हैं। यहाँ तक कि अब एक क्षण भी वह स्थिर नहीं रह पाता और बराबर विचार बनाता रहता है। यह सब हो कैसे गया ? कारण यह है कि हमारी दृष्टि पूर्ण रूप से शरीर पर ही जमी रहती है और उसी से संबंध रखने वाली चीजों में हमारे विचार उलझे रहते हैं। जब यह बात है तो हमारा मन भी उसी रंग में रंग गया और केवल भौतिकता की ओर ही बढ़ता गया। इच्छाओं का ताँता बनने लगा और हम उसमें उलझते ही गये। मन की यही दशा समस्त बिगाड़ का कारण है। अब उसको (मन को) दबाने या कुचलने से इस दशा से छुटकारा कदापि नहीं मिल सकता। यह दूसरी बात है कि हम अपनी हठ-धर्मी से उसके विकास को थोड़ी देर के लिए रोके रहें। जब विकार अंदर मौजूद है तो उसका विकास भी कभी न कभी किसी रूप से अवश्य हो सकता है। मन को दबा कर काबू में रखने का अर्थ अब यहाँ हुआ कि अंदर विकार मौजूद भले ही रहें केवल विकास रोकने का प्रयत्न किया जाये। यह चीज आध्यात्मिक मार्ग में अधिक सहायक नहीं हो सकती। हमारा अभिप्राय तो यह है कि उन विकारों और दोषों का हृदय दूर कर दें। यदि वह दूर हो जाते हैं तो मन को दबाने या वश में रखने का प्रश्न ही नहीं उठता। इसलिये हमें वास्तव में मन को शुद्ध दशा में लाने का प्रयत्न करना ही। इस प्रकार से प्रयत्न

करता है कि उसमें कोई विकार या दोष बाकी न रहे अर्थात मन को सुधार कर उसे वास्तविक दशा में ले आता है।

मन के सुधार का अर्थ केवल यही नहीं कि हम बुरे कामों या बुरे विचारों से दूर रहें। बुराई से बचना, अच्छे कामों की ओर अग्रसर होना, सबसे प्रेम और सहानुभूति रखना, किसी को दुःख न पहुंचाना, सबका भला चाहना आदि तो प्रारम्भिक बातें ही हैं। इनके बिना आध्यात्मिक मार्ग में आगे पग बढ़ ही नहीं सकता परंतु इसके अतिरिक्त और भी बहुत सी बातें शेष रह जाती हैं। सुधार का वास्तविक अर्थ यह है कि मन की समस्त वृत्तियों में संतुलन व्याप्त हो जाये। जहाँ पर जैसी आवश्यकता हो वृत्ति अपना क्षोभ करें परंतु मन उनके प्रभाव से मुक्त रहे। उदाहरण के लिए यों समझ लीजिये कि मन के विकार में काम, क्रोध, लोभ-मोह इत्यादि बताये गये हैं और इनको दबाने और नष्ट करने के लिए कहा जाता है पर यह तो स्वाभाविक वृत्तियां हैं जिनको पूर्ण रूप से नष्ट करना असंभव है। दूसरे यदि यह मान भी लिया जावे कि यह नष्ट कर दी जायें तो फिर मनुष्य में रह ही क्या जावेगा? वास्तव में फिर वह मनुष्य ही नहीं कहा जा सकता; इस कारण आवश्यकता इस बात की है कि इनको वास्तविक दशा में लाया जावे और इनमें संतुलन स्थापित किया जावे जिससे कहीं पर आवश्यकता के अतिरिक्त इनका प्रयोग न होने पावे। यह तब ही संभव हो सकता है जब कि मन की वृत्तियां साम्यावस्था को प्राप्त हो जावें। मन के सुधार से यही अभिप्राय है कि मन को उस दशा पर ले आया जावे जैसा कि आरम्भ में था अर्थात प्रकृति से समानता हो जावे। परंतु यह बात तब ही संभव है जबकि इसके लिए ऐसे सहज और सरल साधन काम में लाये जायें जो मन की वृत्तियों में सन्तुलन स्थापित करने में सहायक हों।

Parallelism In Nature

(Shri Ram Chandra ji President)

The only thing in existence, before creation came into existence was Divinity in its original state and every thing in essence form was merged in it. The process of manifestation started with the Kshob which stirred up a churning movement in the sphere of the Latent Motion. Activity revived and with it the force got enlivened and started its action towards manifestation. This line of action though in ferfect consonance with Divinity, appeared in its outer aspect to be somewhat different from it since it had taken another course aiming at manifestation. It may for that reason be denoted as the line of humanity, because of its close association with the formation of man.

Both the lines are now in action- the Divicity and the Humanity--, running side by side, parallel to each other. But since creation was the primary object at the root, the line of Humanity began to acquire predominance and every thing, including Man began to assume a tangible form' though subtlest at the stage. In other words the line of Humanity became the base of the entire structure. But its action remained subject to the dormant action of the line of Divinity, which ran along

parallel to it. So the proper working of the force went on bringing out forms and shapes. As a matter of fact humanity could never have worked so well, unless it had proceeded along in conjunction with Divinity. In short Humanity set itself into action conjointly with Divinity running parallel to it.

The actions went on multiplying and man along with every thing else began to assume a grosser and grosser form. Every thing in the composition of man falls under the clause of humanity, with Divinity at the root of all and everything. It is for this reason that they say that God is within man and the same view is held by almost all religionists. Thus our ultimate purpose can be served only when we keep pace with Divinity and link it with our line of Humanity. Now since both have come down from the one great God-The Absolute—, the humanity too, like Divinity, was in its purest state. The force of activity in it was but nominal at the time or it was so to say in a sleepy state. The jerks caused by actions and counteractions began to stir up a sort of wakefulness and variations and contradictions began to come to view. Heat and cold made their appearance and began to act in diverse ways

promoting formations. All these things entered into the composition of man and he became a conglomeration of all things in existence. All that we have now to do is to bring them again into their original state or in other words to restore them to a state of poise and tranquility, so as to keep up its link with divinity. The only way to accomplish it is by introducing into them proper moderation and we do the same in Sahaj Marga. The routine practice of meditation really aims at removing immoderation therefrom by the action of our will, so as to keep up the balance. Thus the humanity in us begins to get transformed into Divinity. That is in fact the exact sense conveyed by the term, Divinisation of man. This having been done, the parallelity disappears and both become almost one. Humanity, however, can never be totally extinct so long as one has his body with him, because it has with it the force of creation. It can only be reduced or merged into Divinity to the maximum possible limit.

Sometimes it also happens that an intense shock of some worldly affliction converts a worshipper of matter into a worshipper of God. It is so because man being connected mostly with humanity, the shock effects a depression in the

line of humanity, causing thereby a vacuum. The gap is instantly filled up by divinity which is running parallel to it. The deeper the vacuum, greater and more permanent shall be the effect thereof.

In case of one who has attained a practical cognizance of the state of Jivan-Mukta during life, his line of humanity sinks to insignificance and after he has left his body it disappears totally. This nominal sense of humanity during life is essential, be one ever a saint of the highest calibre and it is on account of this alone that he is sometimes faced with lower tendencies of mind pertaining directly with humanity. If however, one, by virtue of the Master's caliber, has it destroyed completely, his death is quite certain.

By the effect of meditation under the system of Sahej Marga we go on reducing the intensity of force working along the line of humanity. The Divinity, thus begins to gain ground and parallelity begins to diminish. In other words humanity begins to get charged with the effect of Divinity, which in course of time begins to prevail all over. When this condition gets settled fully, the parallelity is gone and humanity along with its force of creation is reduced to insignificance.

We are then in close approximity with the Divine and the problem of life is solved.

Now God being Infinite, the man too, at that highest level of approach, is likewise infinite with in the sphere of humanity, of course. In other words the human limitations are now all off and he has alighted on the vast limitless expanse of Infinity. Experiencing the varied conditions of the space, finally he arrives at a stage where variations too having been transformed into their original state come to an end and changelessness begins to prevail all over. How it comes about? when human limitations are gone, the expansion of self becomes unlimited, so much so that the entire universe seems to be contained within self. Anything then, that strikes anywhere in the universe, causes an echo in his heart. Everything with in Nature is then in his knowledge and perception. The expansion can never be said to be complete so long as it is not exactly so.

This is a secret of Nature which I have exposed herein, inorder to bring people to a full understanding of the real meaning of complete Divinisation of man.

Abhyas or Divine Grace ?

(Shri Ishwar Sahai)

The burning desire of a true aspirant is Realisation. But what sense does the word carry, is somewhat a complicated problem especially for those who stand by reason and understanding. Their contention often is that unless they know what God is, they can not aspire for the realisation. This drags them into philosophical controvereies and argumenta tions which finally entangle them all the more and their problem of life remains unsolved for ever. It is so only because they have taken a wrong approach towards the problem. The real problem, in fact, is not that of realising the already 'Known' but that of realising the absolutely 'Unknown' and for that we have to adopt the proper means. When that is done, knowing and understanding will, by itself, follow in the wake, beyond expression though it may however be even then.

What is to be done ? As a matter of fact all that we stand in need of in our pursuit is the Divine Grace, which when secured solves the entire problem. For this one has to make himself deserving of it. What may be the means for making one's self deserving ? The means, as probably every one knows are love, devotion and surrender. But one merged in materialism is hardly able to follow them though in the core of his heart, he might have some inkling for it. For this purpose too we have therefore to depend upon God. Under our system of sadhana—the Sahaj Marga— we try to solve this difficulty by means of prayer. In the last two lines of the routine prayer followed in the Mission we implore for the Divine Grace to pull us up. "Thou art the only God and power to bring me up to that stage" indicates the same sense.

It is therefore only the Divine grace we are in need of from the very beginning. But that is in itself another problem for it is beyond the capacity of the abhyasi to have His Grace at earlier stages by means of self efforts. Here comes in, therefore the necessity of a Guru or Master who is the only being on earth who can divert the flow of the Divine current towards the abhyasi by the exercise of his own super-normal powers. But this refers only to a real Guru of calibre, completely merged in the Infinite and not to the professional disciple-hunters roaming about at large.

Thus at earlier stages the Divine grace flows into the abhyasi through the medium of the Master and for that he has to depend upon the Master's grace which is in fact identical with the Divine Grace in pursuance with the axiom, 'Guru as Brahma' It is therefore the Master's grace that is first to be invoked, for having the flow of the Divine Grace upon us Now the Grace, whether coming direct, or through the medium of the Master, is the same in both the cases The grace coming from the Master is also the Divine Grace which is diverted towards the abhyasi by the exercise of the Master's supreme power and is on that account called the Master's grace. As a matter of fact the only real job of a true Master is to connect the abhyasi's link with the Divine so as to enable him to draw the grace direct from the Divine. So long as it is not so, the Master keeps him feeding with the Divine Grace through his medium. When the abhyasi has acquired the capacity to draw the Grace direct from the Divine, the Guru's job is practically over though even then he has to keep his watchful eye upon him for the sake of safeguard.

Now is the Master's grace to be invoked ? Obviously the only way for that is to become

deserving of it. What means are to be adopted for making one'sself deserving. Here comes in the abhyasi's job now. He has to under, take for the purpose, practices and sadhanas as might be helpful for his inner making. He has thus to take in what may be necessary and to give up what is detrimental to his march onwards. That is in fact the practical aspect of the sadhana, which can never be omitted under any circumstances. Thus the essentiali of abhyas or sadhana gets established without which no progress can ever be possible. Love and devotion being of course the basic feature of a sadhana is to be maintained and developed all through. Some are, found to be under the impression that love being the basic factor of the pursuit, the abhyas is not necessary if one has the Master's love in his heart. Consequently they are found to be neglecting abhyas on that account. But they have only presumed that they love the Master, without taking into account the real significance of it. In fact a true lover knows not that he loves and when one knows or thinks that he loves, he loves not in the true sense In that case it is only an outward show of love, which amounts to flattery. Flattery is, beyond doubt, devoid of true love. Love includes with it obedience, submission service and sacrifice. If this is lacking in

any respect the love is surely defficient. One, on the path of love can never be away from it at any time. Besides real love has no motive or purpose at its back. It is love for love's sake alone, not admitting any thing else in it. It is this type of love which we have to feed the flame of, by the effect of our sadhana or abhyas. If the feeding is neglected or given up in any case there remains to view, not the true love but only a ghost thereof.

Talks On E. R.

Dr K. C. Varadachari
M A. PH. D.

Ancient Jains used to call these two processes of prevention and throwing out nirjara and samvara. The entry of these particles makes for old age and heaviness (jara) and the other is the process which is totally acceptable for the becoming free from the heavy karma-particles (pudgala), and as such is called the process of samvara (altogether good-samyag-varaniya). Similarly it can be shown that the ancient bhakti schools proposed two basic practices called anukulya samkalpa (willing the helpful to ascent or love of God) and prat ikulyavarjanam (the getting rid of the impediments to realisal ation). These two processes counselled by

the ancients is given a physical basis in the Heart at the two points where they can be prevented and thrown out. The individual may meditate on the Heart at these two points and imagine their purification by an act of will. This of course is a strenuous vigilance (abhyasa) demanding attention and act of will of pushing out and preventing. Indeed the tapasya of the ancients was a process of heating of the system to throw out the dirt and arma—matter and it is even said that the purification is done by the purgala getting out. Master has himself stated that these dirt and disease and karma pass out of us in the back in the form of smoke, and this can be observed.

In any case the purification must be centred on these two points. The same is more easily and quickly achieved when we utilise the Master's superconscious force through transmission directed to the removal of the dirt—disease. This is one of the reasons why abhyasis interested in progress are counselled to get individual sittings from the Master or the preceptors, as therir own will power is neither developed nor pure.

The Master has stated that the portions of the Heart, upper and lower which are bright and dark

and the points in the Upper region A and B, recur in the Higher regions also, of the Upper Part of the Heart Region (in or above the forehead) and in the Mind Region and the Central regions as well. However they do not occupy the same portions there, for there is the inversion of the portion the Upper of the lower Heart region or Heart, becomes the lower of the higher Heart Region, and so on and so forth. Thus the principle of invertendo operates following the pattern of the twists and knots. IN THE ANANT KI OR (Towards Enternity) Sri Ramachandraji mentions as many as 15 granthis or knots and not all of them belong to the Heart Region.

The Abhyasis is firstly to purify the points A and B, and this can be done with the help of the transmission of the Master or with the help of the imagination of purification by means of the Ocean of Bliss or the Master's waves which do the purification in a superconscious way without the incidence of the egoism which attends all individual effort. (I have mentioned this in the article on the subject in the SAHAJA MARGA 1960 APRIL).

Sri Ramachandraji also mentions that sages (Rishis) usually descend in the Upper region of this

Heart and that is why several abhyasis begin to have the vision of rishis. This is what is meant by saying that the rishis descend at that point or part, Several saints have the vision of the Rishis like Narada, Vyasa and it must be presumed that they descend at this region of the heart. However the real experience of the Godhead in the Heart should be sought at this upper part and many seem to experience a flame or jyoti. Some persons form however seek to see their ista-devata at this place. This as has been pointed out means that a gross form is sought to be imagined inside in the same way as outside. This they consider is saguna-upasana or sarupopasana. But it is not. It is a transference of a gross form by imagination in side of oneself. The ancient Rishis of the Upanisads have spoken of the auspicious form of the Divine as jyoti etc.,. The ascent from this Heart centre to the Upper Heart Centre follows on the aspiration of the individual having been awakened. The course taken up is not the usual route spoken of by the tantric system of the six centres. Indeed it must be made clear as already pointed out that whatever may be the value of the six-centres said to be in the spinal cord in a subtle form of lotusses etc through which the

Kundalini is linked up, it is not with the Kundalini rise that spirituality rises. The ascent of the Kundalini through the muladhara, svadhisthana, manipuraka, anahata, visuddha and ajna is not shown to be the way of getting rid of Maya or crossing the Maya. They are centres of power which are utilised by some yogis for aisvarya etc and as pointed out Gurdieff and Ouspensky they are kunda-buffers which impose illusion firstly on others and subsequently on oneself. But to the person who has gone beyond the First Mind of God or reached the Central Region it is possible to experience the kundalini and the power of the several centres pertaining to it in the natural way. This is what the Master says.

Master in fact has stated that the passage of the soul's pligrimage or travel to the Ultimate and the Infinite follows broadly a different route or centres. This is not mentioned in the Efficacy of Raja yoga. But the centres can be mentioned as citta, jnana, atma, tejas (fire), and air (water). These centres in a sense form the panchagni (Five Fires). The experience of these five centres or travel of them leads to the perfomance of the

panchagni vidya. This is of course different at first look from the Upanisad vidya of the same name.

The Higher region of the Heart is reached by the travel or pilgrimage to the same through the five fires. The knots at these centres are untied by a process of reversal or loosening the strain by a pull down as nad when we untie a knot. Aswe untie the loosening itself helps the quite flow of the vibrationary or vibrating energy of the soul. This as pointed out is a long path and the Grand Master has discovered and Sri Ramchandraji has perfected this method. This passage which used to take ages for many to pass and which even some of the most advanced souls of the modern day have not crossed, could be effected by Sri Ram Chandraji in six months. The B point is important for by cleaning it it is stated the corresponding B points in the Higher regional Centre of the Heart as well as those in the Mind region get cleansed. The points in the higher centres are called A1 and B1, and A2 and B2 and A3 and B3 and so on. The Supercconsciousness travelling in these regions are called D and D1 and D2 etc. D refers to divihe consciousness and D1, D2 and so on are super—fine conditions of the Divine

consciousness operating in the different regions. Thus we can see that this Divine Consciousness is not unifor but reveals levels of refinement. However it is least infected with any obstructions and impediments or impurities. The transmissive power of the Master's D3 consciousness is such that it operates in such a way in the regions as to remove all obstructions and impediments inthe abhyasi receiving in within himself or in a way identifying himself with the Master as his perfect instrument or servant (dasa).

My master of this world and Beyond.

(Shri R. C. Saxena)

During these last seventeen years, I have been in constant touch withthe Master and during this period, I have questioned him thousands of times and got replies there of. I donot know of a single occasion when his reply to my question complicated as it seemed to me, though very short and crisp, had failed to satisfy me. His replies were very scientific with a lot of reason behind them. His method is scientific, his every

thing is scientific, appealing to one's logic and reason. He believes and naturally we believe in Raj Yoga, given originally to the World by that Great Avatar Lord Krishna during Mahabharat days The wisdom of Lala Ji and consequently Babu Ji lies in the fact that the system has been modified and made easy so as to suit the present day conditions. Change is the essence of life. Every body changes, every thing changes. The circumstances of the Mahabharat days, the customs and behaviour and all other things of these days are to-day non-existent. In their places some other things, some other circumstances have taken place. It is therefore, very proper and very appealing to reason that the system shonld be so changed, of course, for the good so that it may be applicable to the present day conditions and may be efficacious. It is quite clear that we cannot live in rigid dogmos and circumstances Every thing should change according to the times. If you give me the shirt which I used to wear when I was a boy of eight years now, when I am a grown up man and if I try to wear it do you know what will happen ? The shirt will be torn to pieces. To save the shirt being torn asunder you have to ensure that I get a shirt of my size of the present This arguement can be applicable to

every thing, in life, so you can well imagine what a great reservoir of mental fore-sighted-ness and wisdom, lies in Lala Ji and Babu Ji that they modified the system so as to be suitable for the present times. It is due to this that people with proper common sense would appreciate it and would like to adopt it and they do so. Of course, there is one draw-back. People with rigidity in out-look, adherence to the age old dogmatic principles may not be attracted to it as much as those with clearer and uptodate vision. But here also, I do not think, it would have been a good piece of work, if old, out of date things would have been allowed to be retained, simply for the sake of such persons. In that case, it meant that the system would have helped to keep them in the mire in which they are at present due to their adherence to every thing which is old, howsoever, out of date, out of tune, with the present changed circumstances, it would have been. The system in order to improve matters and to take such persons out of their rigidity and out of their old notions which are doing no good to them, rather which are positive hinderances, in their march onwards, should be brought in line with the present. And this has been done by the Master in bringing out to the fore "Sahaj Marg", an easy way to the

greatest attainment in spirituality as the name itself denotes. According to the Master, "Nature is simple and simpler should be the ways to be with the Nature". If one is with Nature, what else remains to be achieved that I donot know. So, " Sahaj Marg " is the way on which we have to move ahead constantly and it is the surest way to take to our "Destination". The vehicles to tread the path are also quite simple. Meditate as per methods told and get the transmissios from the Master direct or through his accredited preceptors and you go ahead with speed. According to old sayings, Liberation was not possible even in many lives, but the credit goes to my Master who has made this possible even in one life and that also within the reach of all and every body who aspires for it, has the required faith and does what he is told to do, with regard to following the methods of meditation, in vogue in the Mission.

Of course, it does not mean that one can do without a Guru. The Guru, who has already travelled that path, who knows the way fully well, who has the fullest knowledge and experience of all the nooks and corners, of all the pit-falls, ditches and other hurdles in the way, would definitely lead

the way for you through safer channels saving you from all these trouble spots of the path and would take you to the Destination in definitely a lesser time. So you see, that with a right type of Guru, you save time, you save troubles you cross the hurdles of the way, without wasting time and energy, due to his masterly help and proceedjon and on smoothly and easily. Hence, Guru is an imperative need and one cannot forego this extreme necesoity.

Universal love is the theme of his teaching. Humility is the essence. If you see the Master, he is love and humility personified. In the beginning of my coming to him, I once wanted to drink water and I expressed such a desire, with the sole purpose that he may ask his servatt to bring water to me. To my utter amazement, he quickly went to the hand-pipe, drew water out of it and brought it to me himself. I felt so much ashamed and belittled. He marked my this state of mind and remarked that however exalted a person may be, he has only the right of that much work to be got done for him by others which he can do himscif for those. What a noble idea and what a greatness ? To him, all big and small are equal. In the Mission, there are

hundreds of brethren at present but each of them is equally dear and near to him. Each receives his equal attention. I bet, no body can say that he has not received equal measure of his affection and love. Each and every body feels himself to be quite near to him.

He does not take himself to be a Guru, I think this idea of Gurudom does not touch him even on the fringe. He has himself written something against it in one of his books "Roality at dawn", Instead he maintains a brother-hood. Every one in the humanity is a brother to him, mind you, a real brother, rather more than that. According to him spiritual science is a very vast subject and he himself is a student, of course, in a higher class and we in the Junior classes. So, h helps our studies as a senior student only. But I think that this saying of his is also a height of humility. In my opinion, he has read all what is needed to read in spiritualism and nothing is now left for him to study. He has the highest approach. He is a real Master.

So far as I am concerned, I have told you before, that I love him-He is my beloved. I have faith in him, an absolute faith. I trust no God.

except the Master He is my God. His every action and every word, every movement, his every thing is loveable to me. Not even an iota of doubt creeps in to my mind regarding his any thing. To me his word is Supreme I have every faith and every belief that at his feet lies my destination, my every hope, my every thing.

But, dear readers, you say, you donot believe all that I say. How can you ? We live in a world to-day which is full of strife, full of suspicion, full of hatred, full of fear. Living in such a world, we have created similar "Sanskars". It is, therefore, but natural that we are suspicious of others. We are not prepared to believe what others say This is not bad Why should you believe me and in the alternative why should I trust you ? This is a scientific age The results obtained are the proof of action. Hydrogen and Oxygen, when mixed, will bring the result of producing water- a clear cut affair. We wait for the results to prove things I also do not want you to believe blindly what I say Blind faith may be a bad thing I also did not believe in blind faith. I even now donot believe in it For this, you have to take the trouble of approaching the Master himself to see things for yourself I tell you once again that

such times were there never before. So easily, spiritualism was never distributed. So be quick, rush up and come to the Master, and then see for yourself and feel for yourself the truth of what I have said. In your this endeavour, this search for truth, I wish you the best of luck. May God be with you.

My Experience of Sahaj Marga

(Shri Ramchandra Rao
B. Sc., B. E., M. I. S. E.

Beloved Babuji, brothers and sisters,

The condition prevailing here is so pure, calm and serene that it is reminding me of our real characteristic. It is atonce so subtle and light that if I utter a single syllable, I am afraid it may spoil the correct feeling.

However, by your kind permission, dear brothers, I am taking the liberty to venture to speak on this holy occasion or to prattle about my own experience. My thoughts naturally get centred round the Great Personality at whose sacred feet we have gathered today to pay our homage, to express our gratitude and to pray for our spiritual elevation still further.

How this personality has become the centre of my thoughts is a mystery, yet unsolved. Is it due this power of attraction and charm, or is it due to my love and devotion, or is it due to both or else is it due to some cause entirely unknown to us, secret, hidden and mysterous ? His power of attraction is ruled out because he has repeatedly denied all power, all attraction and all charm. My love and devotion do not come into the picture as I have put them out of myself long ago because of — well, let me not indulge in my autobiography in detail Or else, most probably it all started with my assumption that he is the most probably it all started with my assumption thyt he is the most attractive, most charming and most powerful being and I started to admire my own image with love and devotion. But this master knows his business well He coolly put out love stating that real love is not the emotional outburst; and stuck a heavy blow at the devotion stating that real devotion is not flattery And, finally he has dissolved the very image which I had so fondly clung to, stating that the image is not the real thing.

I had seen a country dog here. He appeared to be quite content and happy. But once he went

into the street, joined other dogs, forgot his home and Master and became a street-dog. After some years he became old and famished. He came back here, back home, back to his compassionate and forgiving master, lost his Street-dogness and became really happy and contented. My case is a most simular to that dog. The only difference is in the longer periods of time and greater worsening of condition in my case By His grace, at least some traces of the dog's sense of Master and home were left for the return of the native to his real home and Master.

How many centres I had formed for my thoughts: How many prison houses I had lived in, thinking them to be my own homes: Above all how many masters were there for me: It was a great illusion. But as long as it lasted, I had been dancing madly There were pleasures no doubt, but each pleasure was followed by the abominable hangover. The pinches of pain were unbearable All the struggles for enjoyment were merely the struggles to forget the painful kicks. All expressions of self assertion were nothing but secret yet violent refusal to see the self directly. In order to run away from ugliness I was becoming still uglier by forming more

desires out of fanciful attachment, by creating friction, heat and anger, due to non-fulfilment of the desires and by losing my sense of right and wrong due to heat and anger. So that was the end of any hope of rectification.

Dear brothers, please do not think that I did not think of spirituality or yoga earlier. Yes I did meet a few gurus. One had offered to give me "Manthropdesham", another had promised to help me on the path of the orthodox religion. I had also studied the more impressive works regarding the promise of the advent of the Superman and the lofty ideals of the contemplation upon "who am I" etc. But in all these thoughts and their preachers I could find only yet another kind of doggedness which could not make any deep impression on me. I found that the demand was greater then even the promise in them.

While I was at the brink of disaster, Master came to me with the idealogy of Sahaj Marga or the Natural Path. He is so kind so compassionate and above all so human that he demanded nothing of me except my sincere attention with simple trust. In the beginning his very simplicity, humility and

originality were coming in m way to pay any serious attention to him or even to have any faith in him. But having seen my miserable plight, Master took pity on this wretched being and transmitted to me the Divine impulse.

This was really an entirely new experience for me, this transmission of the Divine impulse: I knew that the holy scriptures taught that the world is transitory and that one should remain unattached with the worldly ties I also knew that the gurus have preached to repeat the words that the world is Maya and that "Aham Brahm Asmi". But I never imagined that these states can actually be experienced in real life by the transmitted power of the Master, in the most natural way without any artificiality what-so-ever. I was given to understand that hard and tiresome practices involving the attainment of specific postures of body and control of breath were absolutely essential to meditate on God But I could never imagine that by meditation according to the method of Sahaj Marga the aim of yoga can be attained so easily and naturally by the help of Master. I was told that the power of Kundalini should be awakened by the purification of the lower centres, in order to proceed upwards.

But it was a surprise to see that the meditation upon the heart according to the revolutionary method of Sahaj Marga purifies all the lower centres and these are automatically controlled by the higher centres in due course. The Jagadgurus had completely disheartened me by declaring that realisation of God was not easily possible for the dirty house-holders (the house-holders are always dirty for them) and it was an extremely difficult task involving hard labour and rigorous imprisonment in the Sanyas Ashrama for innumerable lives (janmas). But here I came across the most promising and the most easily practicable and available method as well as the Master as the living example.

Here is the reliever of the great load from the heavy hearts. Here is the great surgeon to perform the painless operation upon the willing patients suffering from the cancer of their own malignant creations. Here is the great destroyer of all evils and the great creater of a new brighter world. Here is the Lord of liberation and the highest spiritual attainments. Dear brothers, take refuge in Him and surrender to Him in toto with full faith and confidence. He will deliver you all from all sins. This is the secret remedy for which the entire world

has been longing since ages, yet the world at large knows it but little. Such a one is rarely born even once in a thousand years and we are extremely fortunate in having Him in our midst. A golden opportunity has come to us. Let us exploit it to the fullest extent of our capacity. This can be the only tribute which we can fittingly pay to the great Founder of Sahaj Marga on this auspicious occasion of the birth day of the Samartha guru.

May He live long amidst us illumining our hearts for ever, Amen.

Emotional Integration a post script

(S. C. Srivastava M. A.)

Is it useless to talk or emotional integration of our country now ?

No. In the wake of Chinese agression our politicians and their followers have either become silent or their clamour has been drowned in the mighty furore caused by war on our northern and north eastern frontiers. They seem to be united by a common fear. It will require some time and systematic approach to root out the feelings of separatism in our country to cast in one mould.

We have to search out those under currents of Indian life which have sustained it so far. Only by replenishing those stores of vitality and by making people share it more and more that we can think of revitalizing our people who may stand bold and upright and declare: This is our mother and we are children of this soil.

A race is united by adoring common heroes. Who are our heroes ? Whom do all pay their undisputed homage ?- Ashoka ! Akbar ! Pratap ! Shivaji ! None in the complete sense of the term. Ashoka might be branded as an aggressor converted to peace. Much glorified Akbar has suffered an eclipse. What to talk of Pratap and Shiva Ji, even Ram son of Dashrath and the hero of world renowned epics, has to face debrinking sneers of certain people in the South.

Yet we honour certain qualities in them- The reaction of Ashoka against war and cruelty, the philanthropy and honour for knowledge in Akbar and the sense of fighting against tyranny and in justice in others. If we think deeply we will find such traits at their highest in the Saints of our country. Leading a life of renunciation, learning and divine pursuit they had earned a prestige

that the rulers of the state bowed before them. But before they could rise to this eminence they had to prove worthy for the same through austere life and deep knowledge.

Our country has braved all the vicissitudes by feeding upon this vast store of energy created an unbroken line of saints In our mad rush after secularism, we have pushed all those saints in the darkness of oblivion and are feeling proud like a crow plumed with peacock feathers. India has lived in Vedas. Gita and the works of great saints. Recreate a feeling in people to read them. Revive the spirit to go round the country and visit holy places start pilgrimage because only tourism and sight seeing will not reveal the secret majesty of a mountain cave, a peak, a temple, a river, or a tank Teach Indians to be Indians in spirit and all the problems of integration will melt away like snow in the sun.

Pilgrimage and study of some basic reader of Collection of gems from the scriptures will revive the basic structure of Indian mind But to present facts and achievements in their true perspective another attempt is to be made by thinkers and historians of our country- an attempt which diplorably remains uncared for till now.

It is the need of a history of the religions of our country a history to show the rise of different currents of religious and philosophical thoughts. Vedic seers were the visualisers of those truths which dawned naturally unto them as the rays of the morning sun fall on the peaks of mountains. Then this light of knowledge travelled down to the valleys of thought and a social and religious ethics was appended to it. Knowledge of those truths remained upper most and ascetic life as its chief support continued till the advent of Shanker and Ramanuja. These saints travelled far and wide and Shankaracharya has the unique credit of establishing four great centres of worship in the far end of our country.

During the period after Shankar and Ramanuja when rulers were busy fighting among themselves These saints like Kabir, Tukaram, Alwars, Chaitanya, Guru Nanak, Gyaneshwar and Tulsidas and so on went round the country to keep the spirit alive. It was the secret of Gandhi's success that he could connect himself to this store of power and infuse the masses with the same tremendous power.

This is just a sketch, It requires the labour of highly learned people. Ahistory of religion and philosophy is the crying need of the country today.

The establishment of Sri Ram Chandra Mission, Shahjahanpur U. P. with its wide spread branches from Pathankot to Tinsukhia in Assam, to Tirupatti and Madras in South--is the latest step in the direction of emotional integration of the country. Year after year on the holy Basant Panchmi day gather devotees from far corners of the country in Shahjahanpur and one can see how the spirit of brotherhood is fostered among the participants. The President of the Mission makes tour to far regions of the country without any propaganda or pomp and show. Spreading the message of Divinity, the Holy Master is helping towards the spritual reconstruction of world through India.

On one hand, when our country is building up her muscles in the form of military and social service orgnisations to repel any invader, we should not ignore the fissiperous tendencies that keep lurking with in the nations. Let historians develop the mind of the nation by writing the history of integrated soul of the country, let government and other

organisations train up the museles of the country to be strong: But after all, let the Missions like Shri Ram Chandra Mission flourish to weld the mind and body into one unified personality and present our country before the power maddened people of the world and say: Lo, this is India.